

# शिक्षण-साहित्य का विकास और शिक्षण-साहित्य का विकास

शिक्षण-साहित्य का विकास

असि० प्रोफेसर, इतिहास विभाग, जे०वी० जैन कॉलेज, सहारनपुर

## 1. शिक्षण-साहित्य का विकास

सम्पूर्ण विश्व में भारत ही ऐसा राष्ट्र है, जिसकी जीवन-शक्ति अक्षुण्ण है और इस जीवन-शक्ति का प्रमुख आधार है - हमारे देश का शिक्षा दर्शन, जिसकी आधारशिला वैदिक काल में ही रखी जा चुकी थी और जो वेदों सहित भारत के प्राचीन साहित्य में स्थान-स्थान पर परिलक्षित है। इस शिक्षा-दर्शन की प्रमुख कड़ी है - शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्ध, जो वर्तमान भारतीय परिवेश में उतने ही प्रासंगिक हैं, जितने प्राचीन काल में। 'तैत्तिरीय उपनिषद्' में शिक्षा, शिक्षक और शिक्षार्थी के आदर्श सम्बन्धों का उल्लेख करते हुए 'आचार्य को पूर्व रूप, विद्यार्थी को उत्तर रूप और विद्या को सन्धि बताया गया है।' शिक्षक और शिक्षार्थी को परस्पर द्वेष न करने का परामर्श एक 'वेद मंत्र' में दिया गया है। प्राचीन साहित्य की एक अन्य संस्कृत सूक्ति में 'गुरु से यह अपेक्षा की गयी है कि वह सभी स्थानों में अपनी विजय की प्रार्थना करे परन्तु छात्र एवं पुत्र से अपनी पराजय की कामना करे।' शिक्षक के दायित्व और शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्ध के आदर्श रूप का चित्रण भवभूति और कालिदास की रचनाओं में किया गया है। कालिदास की रचना "मालविकाग्निमित्रम्" में तीन प्रकार के शिक्षकों का उल्लेख है। इसमें तीसरे प्रकार के शिक्षकों को श्रेष्ठ कहा गया है, जिन्हें अपने विषय का पर्याप्त ज्ञान भी है और उसे शिक्षार्थी तक पहुंचाने का जिनमें कौशल भी है। वर्तमान समय में तीनों प्रकार के अध्यापक सर्वत्र सुलभ हैं, परन्तु तीसरे प्रकार के शिक्षक ही शिक्षण की प्रतिष्ठा का एकमात्र केन्द्र होते हैं। 'शिक्षण का कार्य वस्तुतः द्विपक्षीय है, जिसमें शिक्षार्थी भी अपने अनेक प्रकार के गुणों से शिक्षक को सिखाता है', इसका उल्लेख भी मालविकाग्निमित्रम् में किया गया है। 'अध्यापक को आजीवन सीखने की प्रवृत्ति को अपनाये रखना चाहिए', इस बात का उल्लेख 'उपनिषद्' में किया गया है। इसी प्रकार कालिदास 'रघुवंश' में शिक्षक की तुलना सूर्य से करते हुए उसके व्यक्तित्व में चारित्रिक दृढ़ता और तेजस्विता की अपेक्षा करते हैं।

स्पष्ट है कि प्राचीन साहित्य में शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्ध के संक्षेप में जो सारगर्भित संकेत प्राप्त होते हैं, वे न केवल तत्कालीन समाज में शिक्षक और शिक्षार्थी की भूमिका के साथ शिक्षक के दायित्वों को दर्शाते हैं, वरन् समसामयिक दौर में भी पतनोन्मुख शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्ध के उत्थान हेतु और उसमें परिपक्वता लाने की दृष्टि से भी सर्वथा उपादेय और प्रासंगिक हैं।

## 2. शिक्षण-साहित्य का विकास, उदात्त भाव, सर्वांगपूर्ण शिक्षा, स्वाध्याय, द्विपक्षीय शिक्षण

### 3. शिक्षण-साहित्य का विकास

सम्पूर्ण विश्व में भारत ही ऐसा राष्ट्र है, जिसकी जीवन-शक्ति अक्षुण्ण है और इस जीवन-शक्ति का प्रमुख आधार है - हमारे देश का शिक्षा दर्शन, जिसकी आधारशिला वैदिक काल में ही रखी जा चुकी थी, और जो वेदों सहित भारत के प्राचीन साहित्य में स्थान-स्थान पर परिलक्षित है। इस शिक्षा-दर्शन की प्रमुख कड़ी है - शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्ध जो वर्तमान भारतीय परिवेश में उतने ही प्रासंगिक हैं, जितने प्राचीन काल में।

भारतीय मत के अनुसार संस्कृत भाषा की 'शिक्ष' धातु में अ-टाप प्रत्यय लगाने से शिक्षा शब्द बना है।(1) शिक्षा शब्द का प्रयोग सीखने के अर्थ में अथवा ज्ञान गृहण करने के अर्थ में होता है। शिक्षा के लिए प्राचीन समय में विद्या शब्द का प्रयोग किया जाता था। जो संस्कृत भाषा की 'विद्' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'जानना'। शील, परोपकार, विनय, क्षमा, धैर्य और अलोभ विद्या के ही उज्वल पक्ष माने गये हैं।(2) भारतीय आचार्यों के अनुसार शिक्षा वह क्रिया है जिससे मनुष्य के जीवन का विकास होता है। ऋग्वेद में लिखा है 'मनुर्वव' (3) अर्थात् 'हे बालक ! तू उत्तम विद्या को प्राप्त करके मनुष्य के लिए उपयोगी सब गुणों को धारण करके अच्छा मनुष्य बन'। प्राचीन भारत का यह शिक्षा-दर्शन, शिक्षण-प्रक्रिया के दोनों प्रमुख ध्रुव - शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच तादात्म्य और आदर्श सम्बन्ध पर आधारित है, और इस आदर्श सम्बन्ध के निर्माण का प्रथम दायित्व शिक्षक का है, जो अपने दृढ़ चरित्र और उदात्त भाव से शिक्षार्थियों को अच्छा मनुष्य बनने की प्रेरणा देता है।

हमारी प्राचीन शिक्षा व्यवस्था में गुरु और शिष्य का सम्बन्ध अति पवित्र, गौरवपूर्ण और मधुर था। गुरु शब्द में 'गु' अन्धकार और 'रु' उसके निरोधक को द्योतित करता है। अतः गुरु का अर्थ है - वह व्यक्ति जो अन्धकार का नाश करता है।(4) आचार्य शिष्यों के प्रति स्नेह रखते थे और उन्हें सब प्रकार से योग्य बनाने का

प्रयत्न करते थे। शिक्षार्थी भी आचार्य की सेवा एवं आदेशों का पालन करना अपना कर्तव्य समझते थे। शिक्षण के क्षेत्र में आचार्य उनके पितृ तुल्य थे। उत्तराधिकार में वे अपना समस्त ज्ञान अपने शिक्षार्थियों को देते थे। एक प्राचीन साहित्य की संस्कृत सूक्ति में छात्र के प्रति गुरु की उदात्त भावना को उल्लिखित किया गया है- "सर्वत्र विजयमिच्छेत् पुत्राच्छिष्यादिच्छेत् पराजयम्"। अर्थात् - 'गुरु सभी स्थानों में अपनी विजय की कामना करे। परन्तु छात्र एवं पुत्र से पराजय की कामना करे।' आचार्य और शिष्य के मध्य सम्बन्ध की घनिष्ठता के कारण निरुक्त में आचार्य को माता भी माना गया है।(5)

निरुक्त में ही आचार्य का कार्य केवल विद्या का अध्यापन ही न बताकर उसे विद्यार्थियों को - श्रेष्ठ आचार को, बुद्धि को और अर्थों को ग्रहण कराने वाला बताया गया है।(6) अथर्ववेद में वर्णित है कि बालक को शिक्षा देने के लिए जब गुरु उसे स्वीकार करते थे, तो वे उसे इस प्रकार सुरक्षित रखते थे जैसे माता पुत्र को अपने गर्भ में सुरक्षित रखती है।(7)

कतिपय उपनिषदों के प्रारम्भ में दिये शान्तिपाठ से ही गुरु-शिष्य के पारस्परिक सम्बन्धों का बोध होता है। गुरु परमतत्त्व परमात्मा से स्तुति करते हैं कि 'हे परमात्मा! आप हम दोनों - गुरु और शिष्य की साथ-साथ रक्षा करें। ..... हम दोनों की पढ़ी हुई विद्या तेजोमयी हो। हम दोनों परस्पर विद्वेष न करें। हम परस्पर स्नेह करें।' (8)

वस्तुतः इन श्लोकों और कथनों में शिक्षार्थी के प्रति शिक्षक की जिस उदात्त भावना का उल्लेख है वह समकालीन भारत में पतनोन्मुख शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्धों के उत्थान हेतु अनुकरणीय है। शिष्य के प्रति गुरु के जिस आन्तरिक भाव का इन श्लोकों, सूक्तियों में उल्लेख है, वह आन्तरिक भाव ही गुरु को गुरुत्व का प्रशिक्षण देता है और शिक्षार्थी का कल्याण उसके लिए सर्वोपरि है, इसकी व्याख्या भी करता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में शिक्षा, शिक्षक और शिक्षार्थी के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए कहा गया है - आचार्य पूर्व रूप है। विद्यार्थी उत्तर रूप है। विद्या सन्धि है। प्रवचन सन्धान है। शिक्षक और शिक्षार्थी को जोड़ने वाली विद्या है, प्रवचन प्रकृष्ट वचन अनुसन्धान है।(9) इनको आपस में द्वेष न करने का परामर्श एक वेद मंत्र में दिया गया है।

प्राचीन काल में शिक्षक और शिक्षार्थी के आदर्श सम्बन्धों को प्रमाणित करते शिक्षणालयों को गुरुकुल कहा जाता था। इन गुरुकुलों में विद्यार्थी की भौतिक आवश्यकताओं का प्रबन्ध बिना किसी शुल्क के आचार्यों द्वारा किया जाता था। वैदिक आचार्यों ने शिक्षा को जीवन से जोड़ा। इसमें सांसारिक और आध्यात्मिक जीवन को बराबर महत्त्व दिया गया। यह एक सर्वांगपूर्ण लोककल्याणकारी शिक्षा पद्धति थी। वैदिक आचार्यों ने अपने शिष्यों को अविद्या (संसार) और विद्या दोनों की साधना साथ-साथ करने पर बल दिया, जैसा कि यजुर्वेद में भी उल्लिखित है।(10)

आचार्य 'यास्क' ने 'निरुक्त' में प्राचीन शिक्षा व्यवस्था में शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्धों और उनके कर्तव्यों पर विद्वतापूर्ण प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि 'शिक्षक को शिक्षण में अच्छा व्यवहार करना चाहिए। शिक्षक को चाहिए कि वह केवल ऐसे शिक्षार्थियों को पढ़ाये जो नियमित हों और ज्ञान पिपासु हों।' (11)

शिष्य को ज्ञान प्राप्ति के लिए निष्ठावान एवं जिज्ञासा परक होना अत्यन्त आवश्यक था। उसकी जिज्ञासा प्रवृत्ति और कर्तव्य बुद्धि की जानकारी गुरु रखता था। गुरु योग्यता के आधार पर शिष्य का चुनाव करता था। निरुक्त में उल्लिखित है कि 'जो नम्रता के साथ उपस्थित नहीं होता था, जो अपने विशिष्ट विषय के महत्त्व को नहीं समझता था, ऐसे शिष्य को स्वीकार नहीं किया जाता था।' (12) वैदिक युग में छात्रों की रुचि के अनुसार छात्रों को शिक्षा प्रदान की जाती थी और उसके व्यवसाय का निर्धारण किया जाता था। आचार्य उसके अध्ययन की अभिरुचि और उसकी वृत्ति का निर्धारण करता था, और सन्तुष्ट होने पर उसे शिष्य परम्परा में गृहीत करता था।

आचार्य 'यास्क' निरुक्त में शिक्षार्थियों के प्रति शिक्षकों के कर्तव्यों को इंगित करते हैं। आचार्य शब्द को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं कि "जो छात्र की बुद्धि का चयन करता है और जो अर्थों को चुन-चुन कर छात्र में उड़ेलता है तथा जो अपने आचार (आचरण) से सदाचार की शिक्षा देता है, वही आचार्य है।" (13) इसी प्रकार उपनिषद् में भी शिक्षक की प्रवृत्ति किस प्रकार की होनी चाहिए, इसे इंगित किया गया है। जिसके अनुसार - 'शिक्षक को आजीवन सीखने की प्रवृत्ति को अपनाये रखना चाहिए। उसका तो अध्ययन ही मनोरंजन का केन्द्र है। पुस्तकें उसकी गोंद के समान खेलने का साधन है। विद्यार्थी उसका लक्ष्य हैं। विद्याध्ययन ही उसका व्यसन है। उपनिषद् में कहा गया है- 'स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमादितव्यम्'। अर्थात् स्वाध्याय

और प्रवचन से कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में उल्लिखित है कि शिक्षक अपने विषय का प्रकाण्ड पण्डित होता है। धर्म के पालन को अपना कर्तव्य समझता है। वह केवल एक ही विषय का नहीं अपितु अनेक विषयों का ज्ञाता होता है। (14) विषयज्ञ होने के साथ ही शिक्षक को अपने विषय के प्रतिपादन में भी समर्थ होना चाहिए।

प्राचीन काल में आचार्य के नैतिक गुणों को बहुत अहमियत दी गयी थी। उनको सत्यवक्ता, धैर्यशाली, पवित्र आचरण करने वाला, दयालु, स्वाध्यायशील, लोभ से रहित, दम्भ न करने वाला, विनम्र और मृदु स्वभाव का होना चाहिये। (15) शिक्षक को अपने शिक्षार्थियों के सम्बन्ध में पक्षपात रहित होना चाहिये। शिक्षार्थियों पर उसका सहज स्नेह होना चाहिये। शिष्यों की योग्यता देखकर उसे प्रसन्न होना चाहिये। परन्तु गलत मार्ग पर चलने वाले शिष्य पर अंकुश लगाना गुरु का कर्तव्य है।

वेदों, निरुक्त, उपनिषदों, पुराणों और धर्मसूत्रों में वर्णित शिक्षक की इन प्रवृत्तियों और गुणों को वर्तमान दौर में भी शिक्षकों को अपनाने की, अपनी आदतों और आचरण में सम्मिलित करने की आवश्यकता है।

शिक्षक के दायित्वों, गुण-दोषों और शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्ध के आदर्शरूप का सांकेतिक चित्रण भवभूति की रचना 'उत्तर रामचरितं और महावीर चरितं तथा कालिदास की रचना मालविकाग्निमित्रम् और रघुवंश' में यत्र-तत्र अति प्रभावशाली रूप में मिलता है, जो वर्तमान दौर में भी प्रासंगिक और उपादेय है।

भवभूति ने आचार्य के रूप में विश्वामित्र के उच्च चरित्र का बखान करत हुए उनके अनेक गुणों का वर्णन किया है। (16)

कालिदास ने अपनी रचना मालविकाग्निमित्रम् में नाट्याचार्य गणदास और हरदत्त के माध्यम से तत्कालीन शिक्षकों के गुण-दोषों का अत्यन्त सूक्ष्मता से चित्रण किया है, जो वर्तमान समय में भी शिक्षकों में सर्वत्र उपलब्ध हैं। मालविकाग्निमित्रम् में मालविका के नाट्याचार्य गणदास, मालविका के सफल नृत्य प्रदर्शन पर कहते हैं— "आज मैं सही मायने में नृत्य का पंडित हुआ हूँ। क्योंकि जैसे आग में डालने से सोना काला नहीं पड़ता वैसे ही शिक्षक के सिखाने में किसी प्रकार की भूल न दिखाई दे, उसे ही सच्ची शिक्षा कहते हैं।" (17)

इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर कालिदास शिक्षक और शिक्षार्थी के सम्बन्ध में परीक्षा के महत्त्व को इंगित करते हुए कहते हैं— "हेमनः संलाक्ष्यते हयग्नौ विशुद्धिः श्यामकापि वा"। सोने को अग्नि में डालकर ही परखा जाता है कि यह शुद्ध है अथवा नहीं, काला तो नहीं पड़ गया। ऐसे ही छात्र की परीक्षा से अध्यापक की परीक्षा होती है।" मालविकाग्निमित्रम् नाटक में कालिदास गणदास के मुख से सभी शिक्षकों की छात्र द्वारा यशस्वी होने की मनोवृत्ति को रेखांकित करते हैं। नाटक में आचार्य गणदास एक सन्दर्भ में कहते हैं—..... मुझे भी यशस्वी होना है क्योंकि— "सिखाने वाले की कला योग्य शिष्य के पास पहुँचकर उसी प्रकार खिलती है जैसे बादल का जल समुद्र की सीपी में पहुँचकर मोती बन उठता है।" (18)

वस्तुतः शिक्षक को ज्ञानार्थी भी होना चाहिए। शिक्षण प्रक्रिया द्विपक्षीय है, जिसमें शिक्षार्थी भी अपने गुणों, कौशल, और व्यवहार से शिक्षक को सिखाता है। शिक्षकों में शिक्षार्थियों को ज्ञान देने के साथ स्वयं भी आजीवन ज्ञानार्जन की प्यास रहनी चाहिए। मालविकाग्निमित्रम् में नाट्याचार्य गणदास अपनी शिष्या मालविका के सम्बन्ध में कहते हैं— "मैं जो-जो भाव उसे सिखाता हूँ, उन्हे जब वह और कुशलता के साथ करती है, तो ऐसा प्रतीत होता है मानो वह मुझे सिखा रही हो"। (19) अभिज्ञानशाकुंतलम् नाटक में कालिदास कण्व ऋषि के माध्यम से इस सन्दर्भ में कहते हैं— "सुशिष्यपरिदत्ता विद्येव अशोचनीया संवृता"। अर्थात् अच्छे शिष्य को दी गयी विद्या शोचनीय नहीं होती है। अच्छा छात्र वही है, जो गृहीत विद्या को आगे बढ़ाये और उसे और चमकाए।

उत्तर रामचरितं में भवभूति इस सन्दर्भ में कहते हैं— "वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे।" इसका अभिप्राय यह है कि अगर शिष्य में विद्यार्जन की लालसा है तो गुरु को अपनी विद्या-बुद्धि का वितरण बुद्धिमान और मूर्ख छात्र में समान रूप से करना चाहिये।

मालविकाग्निमित्रम् नाटक में कालिदास ने तीन प्रकार के शिक्षकों का उल्लेख किया है। ये तीनों प्रकार के शिक्षक समकालीन दौर में भी हर स्थान पर सुलभ हैं। पहले प्रकार के शिक्षक वे हैं जिन्हें अपने विषय का पर्याप्त ज्ञान है, परन्तु अभिव्यक्ति सशक्त नहीं है। दूसरे प्रकार के अध्यापक सम्प्रेषण में कुशल हैं परन्तु उन्हें अपने विषय का पर्याप्त ज्ञान नहीं है। तीसरे प्रकार के अध्यापकों में पर्याप्त ज्ञान और अभिव्यक्ति का कौशल दोनों हैं। वस्तुतः तीसरे प्रकार के शिक्षक ही शिक्षक के पद को प्रतिष्ठित करते हैं। मालविकाग्निमित्रम् में शिक्षक के अन्य दोषों की ओर संकेत करते हुए उल्लिखित है — पद की प्राप्ति के पश्चात् अध्यापन की प्रवृत्ति का न होना, दूसरे के द्वारा उंगली उठाने पर उसका प्रत्याख्यान न करना और केवल पेट पालने के लिए विद्या पढ़ाना — ऐसे शिक्षक पण्डित नहीं अपितु ज्ञान बेचने वाले व्यापारी होते हैं। (20) इसी नाटक में शिक्षक के कुछ अन्य दोषों की ओर भी कालिदास ने संकेत किया है। जैसे — पद की बुभूक्षा, अधिक वेतन पाने की निरन्तर इच्छा, अपनी

कमी को सहन न करना और अपने को अधिक ज्ञानी मानना। नाटक में गणदास और हरदत्त नाट्याचार्यों के लिए कालिदास ने परिचारक के मुख से "परस्परजयैषिणो" अर्थात् 'एक-दूसरे को जीतने की इच्छा करने वाले' जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। इनकी आपसी प्रतिद्वन्द्विता और ईर्ष्या के सम्बन्ध में राजा, महारानी धारिणी से कहते हैं.... "देखो, जो लोग समान विद्या वाले होते हैं, वे कभी एक-दूसरे की बढ़ती उन्नति को सहन नहीं कर सकते हैं।" (21)

वर्तमान दौर में भी शिक्षकों में ये अवगुण सर्वत्र पाये जाते हैं। पद, प्रतिष्ठा और धन के लोभ में शिक्षकों द्वारा अनैतिक साधनों का प्रयोग समकालीन दौर में प्रायः देखा जा सकता है, जो आदर्श शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्ध और शिक्षक के पद की गरिमा को निश्चित रूप से चोट पहुँचाने वाले हैं।

कालिदास 'रघुवंश' में गुरु वरतन्तु के उदाहरण से शिक्षक की तुलना सूर्य से करते हैं। राजा रघु, वरतन्तु के शिष्य कौत्स के आगमन पर उनसे कहते हैं — 'हे कुशाग्रबुद्धि! जैसे सूर्य अपने प्रकाश से सोए हुए संसार को जगा देता है, वैसे ही जिस गुरु (वरतन्तु) ने आपको अपनी ज्ञान-ज्योति से जगाया है और जो मन्त्रदृष्टा ऋषियों में सर्वश्रेष्ठ हैं, वे आपके गुरु कुशल से तो हैं?' (22) यहाँ कालिदास ने शिक्षक की उपमा सूर्य से करके एक ही उपमा से शिक्षक के अनेक कर्तव्यों और गुणों की ओर इशारा किया है। सूर्य के तेज को सभी नमन करते हैं, उसी प्रकार शिक्षक को तेजस्वी होना चाहिए। तेजस्वी शिक्षक को ही शिक्षार्थी नमन करेंगे। सूर्य अपनी किरणों से सोए हुए संसार को जगाता है, उसी प्रकार शिक्षक अपने ज्ञान के प्रकाश से अपने शिक्षार्थियों को जगाता है। जैसे सूर्य संसार को प्रकाशित करने के बाद प्रतिफल की आशा नहीं करता उसी प्रकार शिक्षक भी अपने शिक्षार्थियों से प्रतिदान की आशा न करे। सूर्य काल का निर्माता है और शिक्षक भविष्य का निर्माण करता है।

स्पष्ट है कि प्राचीन साहित्य में शिक्षक-शिक्षार्थी के सम्बन्ध में संक्षेप में जो सारगर्भित संकेत प्राप्त होते हैं, वे न केवल तत्कालीन समाज में शिक्षक और शिक्षार्थी की भूमिका के साथ शिक्षकों के दायित्वों को दर्शाते हैं, अपितु समसामयिक दौर में भी पतनोन्मुख शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्ध के उत्थान हेतु और उसमें परिपक्वता लाने की दृष्टि से भी सर्वथा उपादेय और प्रासंगिक हैं। विशेष रूप से कालिदास ने अपनी रचना मालविकाग्निमित्रम् और रघुवंश में सांकेतिक रूप से अत्यन्त सूक्ष्मता और कुशलता से शिक्षक के जिन गुण-दोषों का विवेचन किया है, वह वर्तमान दौर में भी शिक्षकों में विद्यमान हैं। अतः यह शिक्षकों का दायित्व है कि वे प्राचीन साहित्य में वर्णित उपरोक्त दोषों से मुक्त होकर, आदर्श शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्ध के सृजन में पहल करते हुए शिक्षार्थियों को आदर्श भारत के निर्माण के लिए तैयार करें।

## 1. UHKL ph

- 1 शब्दार्थ कौस्तुभ, पृष्ठ-1152
- 2 'शीलं परहितासक्तिरनुत्सेकः क्षमाधृतिः। अलोभच्छेति विद्यायाः परिपावकोज्ज्वलं फलम्।' क्षेमेन्द्र दर्पदलन-3.15.1, उद्धरित- वैदिक वेदवती, 'उपनिषद्दुगीन संस्कृति', नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, पृष्ठ-480
- 3 ऋग्वेद, 10.4
- 4 'गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद रु शब्दस्तन्निरोधकः। अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरिव्यभिधीयते। अद्वयतारकोपनिषद्, उद्धरित - वैदिक वेदवती, 'उपनिषद्दुगीन संस्कृति', नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, पृष्ठ-560
- 5 'तं मन्यते पितरं मातरं च तस्मै न दुहत्कतमच्चनाह।' निरुक्त-2.4.
- 6 'आचार्यः अस्मादाचारं ग्राह्यत्याचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा।' निरुक्त-1.4
- 7 'आचार्यः उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः।' अथर्ववेद-11.5.3
- 8 'सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।' कठ उपनिषद्, शान्तिपाठ, उद्धरित - वैदिक वेदवती, 'उपनिषद्दुगीन संस्कृति', नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, पृष्ठ-578
- 9 'आधाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवास्तुररूपम्। विद्या सन्धिः। प्रवचनं सन्धानम्। इत्याधिविद्यम्।' तैत्तिरीय उपनिषद् द्वितीय-तृतीयोऽनुवाकः
- 10 'अन्धतमः प्रविश्यन्ति येऽविद्यामुपासते ततो भूयऽइव ते तमोयऽउ विद्याया रताः।' यजुर्वेद-40.12
- 11 यास्क, निरुक्त-2.3.4.
- 12 'नानुपसन्नाय अनिविदे वा। नित्यम् हविजातुर्विज्ञानेऽसूर्या उपसन्नाय तु विर्बुयात्। यो बालं विजातुं स्यात् मेधायिने तपस्विने वा।।' निरुक्त-2.3
- 13 यास्क, निरुक्त, उद्धरित - पाण्डेय रामशकल, 'शिक्षा के दार्शनिक सिद्धान्त', आगरा, पृष्ठ-7
- 14 आपस्तम्ब धर्मसूत्र-1.1.1.12-17 उद्धरित - कुमार कृष्ण 'भारत का सांस्कृतिक इतिहास', श्री सरस्वती सदन, दिल्ली, पृष्ठ-413
- 15 मत्स्य पुराण-145.28

- 16 भवभूति, महीवीरचरितम्-1.10-12
- 17 'उपदेशं विदुः शुद्धम् सन्तस्तमुपदेशिनः। श्यामायते न युष्मासुः यः काञ्चनमिवाग्निशु।।' मालविकाग्निमित्रम्-2.9
- 18 'भद्रे मयापि यशस्विना भवितव्यम् यतः पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः। जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलस्य पयोदस्य।।' मालविकाग्निमित्रम्-1.6
- 19 'यद्यत्प्रयोगविशये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै। तत्तद्विशेषकरणत्प्रत्युपदिशतीव बाला।।' मालविकाग्निमित्रम्-2.8
- 20 'लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोस्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम्। यस्यागमः केवल जीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति।।' मालविकाग्निमित्रम् 1.17
- 21 'अलमन्यथा गृहीत्वा न खलु मनस्विनि मया प्रयुक्तमिदम्। प्रायः समानविद्यः परस्परयशः पुरोभागाः।।' मालविकाग्निमित्रम्-1.20
- 22 'अप्यग्रणीमन्त्रकृतामृशीणां कुशाग्रबुद्धे कुशली गुरुस्ते। यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः।' रघुवंशं-5.4



डॉ० सीमा चौधरी, असि० प्रोफेसर, इतिहास विभाग,  
जे०वी० जैन कॉलेज, सहारनपुर  
शैक्षिक योग्यता - एम.ए., बी.एड., एम.फिल.,  
पीएच.डी.